श्रमणधर्म : एक विश्लेषण

श्री हीरामुनि 'हिमकर'

भारतीय संस्कृति दो धाराओं में प्रवाहित हुई है—एक धारा का नाम ब्राह्मण संस्कृति है तो दूसरी धारा का नाम श्रमण संस्कृति है। ब्राह्मण संस्कृति ने गृहस्थाश्रम को महत्त्व दिया तो श्रमणसंस्कृति ने श्रमणधर्म को। जब तक ब्राह्मण संस्कृति का संपर्क श्रमण संस्कृति से नहीं हुआ वहाँ तक उसमें ब्रह्मचर्य और गृहस्थ ये दो ही आश्रम थे। सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन की प्रगति के लिए ये दो ही आश्रम पर्याप्त थे। जब श्रमण संस्कृति का प्रभाव पड़ा तब तीन और चार आश्रम स्वीकार किये गये तथापि महत्ता गृहस्थाश्रम की ही रही। किन्तु श्रमण संस्कृति में प्रारम्भ से ही श्रमण का महत्त्व रहा। गृहस्थाश्रम में रहने वाला गृहस्थ श्रावक भी व्रतों को ग्रहण करते समय इस सत्य को स्वीकार करता है कि मैं श्रमणधर्म को स्वीकार करने में असमर्थ हूँ अतः श्रावक के द्वादशव्रतों को ग्रहण कर रहा हूँ। श्रावक-जीवन में रहते हुए भी उसकी प्रतिपल-प्रतिक्षण यही भावना रहती है कि वह दिन कब होगा जिस दिन मैं गृहस्थाश्रम का परित्याग कर श्रमणधर्म को ग्रहण करूंगा। उत्तराध्ययनसूत्र में छद्मवेषधारी इन्द्र ने नमि राजर्षि से कहा—राजर्षे! तुम पहले यज्ञ करो, श्रमण और ब्राह्मणों को भोजन कराओ, दान दो, फिर श्रमण हो जाना।

उत्तर में नमी राजर्षि ने कहा—जो मानव प्रति मास दस लाख गायें दान देता है उसके लिए भी संयम श्रेष्ठ है। अर्थात् दस लाख गायों को देने से बढ़कर भी श्रमण जीवन का अधिक महत्व है। इससे स्पष्ट है कि श्रमण-परम्परा में श्रमण-जीवन का कितना अधिक महत्त्व रहा है। श्रेष्ठता व्यक्ति की नहीं साधना की है, संयम की है। साधना के अनुकूल वातावरण के लिए वेष परिवर्तन करना, गृहवास का त्याग करना आदि आवश्यक है। यदि उत्कृष्ट आंतरिक विशुद्धि हो चुकी हो तो गृहस्थ या अन्य किसी भी वेष में मुक्ति हो सकती है। मुक्ति में वेष उतना बाधक नहीं है जितना कि आंतरिक विकार। आत्मा का उत्कर्ष साधने के लिए बाहरी वातावरण और अभ्यास की आवश्यकता होती है। क्योंकि साधक एक यात्री है यदि उसे अनुकूल वातावरण न मिले तो वह भटक भी सकता है, अटक भी सकता है और अधर में लटक भी सकता है। एतदर्थ ही आगम साहित्य में साधक के लिए योग्य वातावरण आवश्यक माना है। क्योंकि सभी साधक आचार्य स्थूलभद्र नहीं हो सकते। अतः साधक को अत्यधिक जागरूक रहकर साधना व आराधना करनी चाहिए।

श्रमण संस्कृति ने आध्यात्मिक विकास पर बल देकर भारतीय समृद्धि व वैभव को बढ़ाने में सहयोग दिया। भारत का जब कभी भी पतन हुआ उसका मूल कारण था विलास, परस्पर कलह तथा स्वार्थवृत्ति। इन सभी दुर्गुणों को जीतने व परित्याग करने का सन्देश श्रमण संस्कृति ने दिया है। उसने अधिक से अधिक सद्गुणों को अपनाने की प्रेरणा दी है। गृहस्थ श्रावकों के लिए द्वादशव्रतों का विधान किया है तो श्रमण के लिए पंच महाव्रतों की व्यवस्था की है। गृहस्थों के व्रत तो सभी स्वीकार कर सकते हैं, पर महाव्रतों को सभी स्वीकार नहीं कर सकते।

स्थानांगसूत्र में धर्म के दो अंग माने हैं—श्रुतधर्म और चारित्रधर्म। श्रुतधर्म से बुद्धि की निर्मलता होती है, साधना के रहस्य परिज्ञात होते हैं, तत्त्वों का सही स्वरूप समझ में आता है। कौन हेय है, कौन उपादेय है और कौन ज्ञेय है—इसका ज्ञान श्रुत से ही होता। जो ज्ञान हुआ उसे चारित्रधर्म के द्वारा स्वीकार करना, सद्गुणों को जीवन में ग्रहण कर आध्यात्मिक विकास करना आवश्यक है। जैसे केसर जैसी बहुमूल्य वस्तु काश्मीर के सुरम्य प्रदेश में पैदा होती है, रेगिस्तान में नहीं; वैसे ही श्रमणधर्म वही व्यक्ति ग्रहण कर सकता है जिसका आचार श्रुतधर्म से सुवासित हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चुका है। वर्तमान अवसर्पिणी काल में श्रमणधर्म का प्रारम्भ भगवान श्री ऋषभदेव ने किया और अपने पुत्र ऋषभ को श्रमण के वेष में केवलज्ञान प्राप्त हुए देखकर माता मरुदेवा को केवलज्ञान केवल-दर्शन की उपलब्धि हुई और वह मोक्ष में पधार गयी। भगवान ऋषभदेव के पुत्र और पुत्रियाँ भी श्रमणधर्म को स्वीकार कर मोक्ष पधारे। भगवान ऋषभदेव के पश्चात् अन्य तेईस तीर्थंकर हुए। उन्होंने भी श्रमण संस्कृति के दीप में समय-समय पर तेल प्रदान कर उसे अधिक प्रदीप्त किया और ज्योतिर्धर आचार्यों व प्रभावक श्रमण मुनियों ने इस संस्कृति की गौरव-गरिमा को बढ़ाने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

जैन संस्कृति के श्रमण का उद्देश्य है विभाव से हटकर स्वभाव में रमण करना, पर-दर्शन नहीं, आत्मदर्शन करना। सूत्रकृतांगसूत्र में बताया है कि एकमात्र आत्मा के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करे। संसार में विराट दुःख है। जब तक आत्मा संसार के किनारे नहीं पहुँचता वहाँ तक दुःख से मुक्त नहीं हो सकता। एतदर्थ ही उत्तराध्ययनसूत्र में श्रमण जीवन को नौका के समान कहा है। जो नौका छिद्रसहित होती है वह समुद्रतट पर नहीं पहुँच पाती। जो नौका छिद्र रहित है वही सागर के पार होती है। श्रमण संयम के द्वारा सभी पाप-छिद्रों को रोक देता है और भव-सागर को पार कर जाता है।

श्रमण की पहचान के लिए वेष आवश्यक माना गया है। श्रमण के लिए आगम साहित्य में मुखवस्त्रिका, रजोहरण, पात्र आदि उपकरण रखने का विधान है। जब श्रमण धर्म स्वीकार किया जाता है उस समय वह केश-लुंचन भी करता है। स्थानांग में श्रमण के लिए दस प्रकार का मुण्डन बताया है। श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय के विषयों को जीतना, क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों पर विजय प्राप्त करना—ये नौ प्रकार के आंतरिक मुण्डन हैं और दसवाँ सिर के बालों का मुण्डन है।

श्रमण के मुख्य दस धर्म हैं—(१) क्षमा, (२) मुक्ति, (निर्लोभवृत्ति), (३) आर्जव (सरलता), (४) मार्दव, (५) लाघव (मोहरहित विनय), (६) सत्य, (७) संयम, (८) तप (९) त्याग और (१०) ब्रह्मचर्य।

केवल वेष परिवर्तन करने से श्रमण नहीं बनता। श्रमण बनने के लिए गुणों का होना आवश्यक है। समवायांग सूत्र में श्रमण के सत्ताईस गुणों का वर्णन है। वह इस प्रकार है—

"प्राणातिपातविरमण" ऐसे ही सर्वथा प्रकार से मृषावाद का त्याग, अदत्तादानत्याग, मैथुनत्याग, परिग्रहत्याग, श्रोत्रेन्द्रियनिग्रह आदि से ५वीं स्पर्शनेन्द्रियनिग्रह, क्रोधविवेक, मानविवेक, मायाविवेक, लोभविवेक, भावसत्य, करणसत्य, योगसत्य, क्षमा, वैराग्य, मनसमाधारणता, वचनसमाधारणता, कायसमाधारणता, ज्ञान-संपन्नता, दर्शन-संपन्नता, चरित्र-संपन्नता, वेदनासहन एवं मृत्युसहिष्णुता।

दिगम्बर परम्परा में श्रमण के अट्ठाईस मूल गुण माने हैं—पाँच महाव्रत, पाँच इन्द्रियों का निग्रह, पाँच समिति छः आवश्यक, स्नानत्याग, शयनभूमि का शोधन, वस्त्र-त्याग, केश लुंचन, एक समय भोजन, दन्तधावनत्याग और खड़े-खड़े भोजन।

जैन-श्रमण के लिए सतरह प्रकार के संयम का पालन करना आवश्यक है। वह सतरह प्रकार के संयम यह हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, अजीवकाय, प्रेक्षा—सोते, बैठते समय वस्त्र आदि उपकरणों को सम्यक् प्रकार से देखना, उपेक्षा—सांसारिक कार्यों के प्रति उपेक्षा, अपहृत्य-श्रमणधर्म का अध्ययन करना, शरीरउपाधि, मल-मूत्रादि परिष्ठापन करते हुए जीवरक्षा करना, प्रमार्जना—वस्त्र, पात्र, मकान शरीर का उपयोग करते समय प्रमार्जनी गुच्छ विशेष से प्रमार्जन करना, मन को कषायरहित रखना, वचन असत्य, मृषा व सिद्धान्तविरुद्ध न बोलना, काय—सोने-बैठने आदि शारीरिक क्रियाओं को करते समय जीवरक्षा का ध्यान रखना, इस प्रकार साधक असंयम से निवृत्त होकर संयम में प्रवृत्त होता है।

श्रमणधर्म स्वीकार करने वाले साधक की कुछ बाह्य विशेषताएँ भी आचार्यों ने प्रतिपादित की हैं, वे ये हैं—(१) आर्यदेशोत्पन्न, इसमें यह अपवाद है जो व्यक्ति अनार्यदेश में उत्पन्न हुआ है किन्तु गुणों से युक्त है तो वह दीक्षा ग्रहण कर सकता है। (२) शुद्ध जाति कुलान्वित (३) क्षीणप्राय अशुभकर्म (४) विशुद्ध बुद्धि (५) विज्ञात संसार (६) विरक्त (७) मन्द कषायभाक् (८) अल्प हास्यादि अकौतूहली (९) कृतज्ञ (१०) विनीत (११) राजसम्मत (१२) अद्रोही (१३) सम्पूर्ण अंग सुन्दर हों (१४) श्रद्धावान् (१५) स्थिरचित्त (१६) समुप-सम्पन्न—पूर्णरूप से जीवन को संयम से व्यतीत करने वाला हो। इन बाह्य सद्गुणों से युक्त व्यक्ति ही श्रमणधर्म का सम्यक् प्रकार से पालन कर सकता है।

स्थानांगसूत्र में श्रमणों के लिए तीन प्रकार के पात्र लेने का विधान है—(१) तुम्बे का पात्र, (२) काष्ट का पात्र और (३) मिट्टी का पात्र। श्रमण तीन कारणों से वस्त्र धारण करते हैं—(१) लज्जा के निवारण हेतु, (२) जनता की घृणा को दूर करने के लिए (३) शीत, ताप आदि परीषह असह्य होने पर। स्थानांगसूत्र में तीन प्रकार के वस्त्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रहण करने का भी उल्लेख है—ऊन के, कपास के और सन के। वस्त्र की मर्यादा में श्रमण के लिए बहत्तर हाथ और श्रमणी के लिए छियानवे हाथ से अधिक वस्त्र नहीं रखने का विधान है। श्रमणोपासक श्रमण को चौदह प्रकार का निर्दोष दान प्रदान करता है। वे इस प्रकार हैं—(१) असन, (२) पान, (३) खादिम, (४) स्वादिम, (५) वस्त्र; (६) प्रतिग्रह (काष्ट पात्रादि), (७) कंबल, (८) पादपोंछन, (९) पीठ—बैठने का बाजोट, (१०) फलक—सोने का पाट, (११) शय्या मकान, (१२) संथारा—तृण, घास आदि सोने के लिए, (१३) रजोहरण—ऊन का गुच्छक जीवरक्षा हेतु; (१४) औषधभेषज आदि।

जैन-श्रमण की भिक्षा भी एक प्रकार की तपस्या है। भिक्षा को मधुकरी या गोचरी भी कहते हैं। वह जिस गृहस्थ से भिक्षा प्राप्त करे उसे किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं होना चाहिए। श्रमण अपने लिए भोजन नहीं बनाता और न अपने लिए बनाये हुए भोजन को ग्रहण ही करता है। भिक्षा के लिए एक पृथक् समिति का ही विधान किया गया है, जिसका नाम ऐषणासमिति है। श्रमण को सोलह उद्गमन के तथा सोलह उत्पाद के एवं दस ऐषणा के इस प्रकार बयालीस दोष टालकर आहार-पानी ग्रहण करना चाहिए और सेंतालीस दोष टालकर आहार का उपभोग करना चाहिए। श्रमण छः कारणों से आहार करते हैं—क्षुधा-वेदना सहन न होने पर, वैयावृत्ति हेतु, ईर्याशोधनार्थ, संयम-पालनार्थ, प्राणरक्षणार्थ और धर्मचिन्तनार्थ। इसी प्रकार छः कारण उपस्थित होने पर वह आहार का परित्याग करता है—रोग की अभिवृद्धि होने पर, संयम त्याग का उपसर्ग उपस्थित होने पर, ब्रह्मचर्य की रक्षा हेतु, प्राणियों की रक्षा निमित्त तप के लिए तथा शरीरत्याग के अवसर पर। इस तरह आहार का ग्रहण और आहार का परित्याग संयम-साधना के लिए लिया जाता है या छोड़ा जाता है।

श्रमण-जीवन का उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना है। उसके लिए मुख्य दो साधन हैं—स्वाध्याय और ध्यान। श्रमण के दैनन्दिन जीवन में स्वाध्याय और ध्यान का अत्यधिक महत्त्व है। श्रमण प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में भिक्षा-चर्या और चतुर्थ प्रहर में पुनः स्वाध्याय करता है। इसी तरह रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में निद्रा और चतुर्थ प्रहर में पुनः स्वाध्याय करने का विधान है। दिन में एक प्रहर भिक्षाहेतु और रात्रि में एक प्रहर निद्राहेतु बताया है। वह भी संयम, स्वाध्याय व ध्यान की अभिवृद्धि हेतु है। बिना आहार और विश्रांति के निर्विघ्नतापूर्वक साधना नहीं हो सकती। स्वाध्याय और ध्यान करते समय रुग्ण, तपस्वी, वृद्ध, आदि श्रमणों की सेवा का प्रसंग उपस्थित हो तो वह सर्वप्रथम उनकी सेवा-शुश्रूषा करे। वैयावृत्ति भी श्रमण की साधना का एक प्रमुख अंग है।

आगम साहित्य में श्रमण के पुलाक, बकुश, प्रतिसेवना, कषायकुशील निर्ग्रन्थ और स्नातक—ये छह प्रकार बताये गये हैं। पुलाक खेत में अवस्थित शाली के सदृश्य जिसमें शुद्धि कम और अशुद्धि की मात्रा अधिक होती है; बकुश खेत में कटी हुई शाली के समान शुद्धि और अशुद्धि समान होती है; प्रतिसेवना खलिहान में उफनती शालीवत् शुद्धि अधिक और अशुद्धि कम; कषायकुशील छिलकेयुक्त शाली के समान; निर्ग्रन्थ छिलकेरहित चावल की तरह और स्नातक शुद्ध चावल के जैसे। इनमें पुलाक, बकुश, प्रतिसेवना इन तीन में सामायिक और छेदोपस्थापनीय ये दो चारित्र होते हैं। कषायकुशील में सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्ध और सूक्ष्म सम्पराय, ये चार चारित्र होते हैं। निर्ग्रन्थ एवं स्नातक में एक यथाख्यात चारित्र होता है। पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना में छठा और सातवाँ गुणस्थान होता है, कषायकुशील में छठे से लेकर ग्यारहवाँ गुणस्थान हो सकता है। निर्ग्रन्थ में बारहवाँ गुणस्थान होता है और स्नातक में तेरहवाँ और चौदहवाँ गुणस्थान होता है।

श्रमण-जीवन में अनेक प्रकार के परीषह उपस्थित होते हैं। आगम साहित्य में मुख्य परीषहों की परिगणना की है। उनमें क्षुधा, तृषा, शीत, ताप आदि बाईस हैं। श्रमण चाहे अनुकूल परीषह हो चाहे प्रतिकूल परीषह हो—उन परीषहों को हँसते और मुस्कराते हुए सहन करता है किन्तु कभी भी परीषहों से विचलित नहीं होता। एतदर्थ ही शास्त्रकारों ने कहा है श्रमण जीवन में इतना सुख प्राप्त होता है जितना स्वर्ग में भी उपलब्ध नहीं है। श्रमण स्वर्गीय सुखों का भी अतिक्रमण कर जाता है। क्योंकि स्वर्गीय सुख भौतिक पदार्थों पर अवलंबित है जबकि श्रमण-जीवन का जो सुख है वह आध्यात्मिक है, उसमें किसी की भी अपेक्षा नहीं होती।

सारांश यह है कि श्रमण संस्कृति में श्रमणधर्म का जो निरूपण किया गया है वह इतना महत्त्वपूर्ण है कि आज भी यदि साधक उन सद्गुणों को अपनाये तो उसका जीवन चमक सकता है। उसके जीवन में अभिनव आलोक का संचार हो सकता है। जैन आगम साहित्य में श्रमणाचार का बहुत ही विस्तार से विश्लेषण किया गया है। किन्तु विस्तारभय से हमने संक्षेप में ही उस पर चिन्तन किया है। ☆

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org